Journal of Research and Development

Peer Reviewed International, Open Access Journal.

ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-8(B)| August - 2025

Original Article

आदर्श से यथार्थ तक: गांधी और अंबेडकर का विमर्श

शशिपाल कुमार

शोधार्थी, विश्वविद्यालय राजनीति विज्ञान विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

Email: shashipalbittu@gmail.com

Manuscript ID:

JRD -2025-170832

ISSN: 2230-9578

Volume 17

Issue 8(B)|

Pp. 169-176

Aug 2025

Submitted: 17 July. 2025

Revised: 02 Aug. 2025

Accepted: 17 Aug. 2025

Published: 31 Aug. 2025

सारांश

महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय समाज और राजनीति के ऐसे दो महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं, जिनकी वैचारिक दृष्टि ने न केवल स्वतंत्रता संग्राम को दिशा दी, बल्कि स्वतंत्र भारत की राजनीतिक और सामाजिक संरचना को भी गहरे स्तर पर प्रभावित किया। गांधी के विचारों का केंद्र बिंदु सत्य, अहिंसा और ग्राम स्वराज था, जिसने स्वतंत्रता आंदोलन को नैतिक शक्ति और जनांदोलन का स्वरूप प्रदान किया। उनके आदर्शवाद का आधार यह विश्वास था कि समाज का परिवर्तन नैतिक चेतना और आत्मशुद्धि के माध्यम से संभव है। इसके विपरीत, डॉ. अंबेडकर ने भारतीय समाज की गहरी जड़ें जमाए असमानताओं और जातिगत शोषण की कठोर वास्तविकताओं पर ध्यान केंद्रित किया। उनका मानना था कि सामाजिक समानता केवल संवैधानिक अधिकारों, विधिक सुरक्षा और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से ही सुनिश्चित की जा सकती है। उन्होंने जाति-प्रथा के उन्मूलन और वंचित समुदायों को अधिकार-सम्पन्न बनाने पर विशेष बल दिया। दोनों नेताओं के बीच यह वैचारिक भिन्नता अनेक अवसरों पर परिलक्षित हुई। पूना पैक्ट (1932) इस द्वंद्व का एक ऐतिहासिक उदाहरण है, जहाँ गांधी का लक्ष्य दलितों को हिंदू समाज की मुख्यधारा में बनाए रखना था, जबकि अंबेडकर उन्हें स्वतंत्र राजनीतिक पहचान और सुरक्षित प्रतिनिधित्व दिलाने के पक्षधर थे। आलेख में यह भी स्पष्ट किया गया है कि स्वतंत्र भारत में आरक्षण नीति, दलित राजनीति, पंचायती राज, ग्रामीण विकास योजनाएँ और नैतिक मूल्य आधारित राजनीतिक विमर्श-इन सबमें कहीं न कहीं गांधी और अंबेडकर दोनों की विरासत आज भी जीवंत है। समकालीन भारत में जातिगत हिंसा, सामाजिक असमानता, राजनीतिक भ्रष्टाचार और नैतिक पतन जैसी चुनौतियाँ इस विमर्श को और भी प्रासंगिक बना देती हैं। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि भारतीय लोकतंत्र की स्थिरता और प्रगतिशीलता के लिए गांधी का नैतिक आदर्शवाद और अंबेडकर का संवैधानिक यथार्थवाद-दोनों को संतुलित रूप से अपनाया जाए। यही समन्वय लोकतंत्र की जड़ों को सुदृढ़ करेगा और भारतीय समाज को अधिक न्यायपूर्ण तथा मानवीय दिशा प्रदान करेगा।

मूलशब्द:- *गांधी, अंबेडकर, आदर्शवाद, यथार्थवाद, पूना पैक्ट, सामाजिक न्याय, संवैधानिक अधिकार, नैतिक राजनीति*

Quick Response Code:

Website: https://jrdrvb.org/

DOI: 10.5281/zenodo.17233415

OPEN ACCESS

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International Public License, which allows others to remix, tweak, and build upon the work noncommercially, as long as appropriate credit is given and the new creations ae licensed under the idential terms.

Address for correspondence:

शशिपाल कुमार, शोधार्थी, विश्वविद्यालय राजनीति विज्ञान विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

How to cite this article:

कुमार, . शशिपाल. (2025). आदर्श से यथार्थ तक: गांधी और अंबेडकर का विमर्श. Journal of Research and Development, 17(8(B)), 169–176. https://doi.org/10.5281/zenodo.17233415

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-8(B)| August - 2025

प्रस्तावना

भारत का स्वतंत्रता संग्राम केवल औपनिवेशिक सत्ता से राजनीतिक मुक्ति की लड़ाई भर नहीं था, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक पुनर्निर्माण, नैतिक जागरण और मानवाधिकारों की पुनर्स्थापना का आंदोलन भी था। यह संघर्ष केवल शासन परिवर्तन का साधन नहीं रहा, बल्कि इसका उद्देश्य भारतीय समाज को उसकी जड़ों से बदलना और एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना था, जहाँ समानता, न्याय और मानव गरिमा का संरक्षण हो। इस यात्रा में अनेक नेता और चिंतक सक्रिय रहे, किंतु महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर ऐसे दो महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व थे, जिनकी वैचारिक दृष्टियों और कार्यों ने स्वतंत्र भारत की आत्मा तथा संरचना दोनों को गढ़ने में निर्णायक भूमिका निभाई। महात्मा गांधी, जिन्हें "राष्ट्रपिता" कहा जाता है, ने सत्य, अहिंसा और आत्मबल को स्वतंत्रता आंदोलन का मूल आधार बनाया। उनका मानना था कि नैतिक परिवर्तन और हृदय की शुद्धि के बिना कोई स्थायी सामाजिक सुधार संभव नहीं है। गांधी का आदर्श भारत "ग्राम स्वराज" की अवधारणा पर आधारित था, जिसमें प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर, न्यायपूर्ण, सामंजस्यपूर्ण और नैतिक मूल्यों से प्रेरित हो। उनके लिए स्वतंत्रता का अर्थ केवल ब्रिटिश सत्ता से मुक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक बुराइयों से छुटकारा और मानवता पर आधारित व्यवस्था की स्थापना था। इसके विपरीत, डॉ. भीमराव अंबेडकर का दृष्टिकोण अनुभव-सम्पन्न और यथार्थवादी था। वे समाज की गहरी जमी असमानताओं और जातिगत भेदभाव को अपनी आँखों से देख चुके थे। अंबेडकर मानते थे कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता पर्याप्त नहीं, जब तक समाज से जातिगत उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय समाप्त न हो। उनका जीवन सामाजिक न्याय, कानूनी समानता और वंचित वर्गों के अधिकारों की लड़ाई को समर्पित रहा। अंबेडकर का विश्वास था कि ठोस संवैधानिक प्रावधान, विधिक ढाँचा और राजनीतिक प्रतिनिधित्व ही वास्तविक सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। इस आलेख में गांधीजी के आदर्शवादी दृष्टिकोण और अंबेडकर के संवैधानिक यथार्थवाद के बीच निहित द्वंद्व और उनकी परस्पर पूरकता का विश्लेषण किया जाएगा। यह अध्ययन न केवल दोनों महान नेताओं के विचारों की समानताओं और भिन्नताओं को स्पष्ट करेगा, बल्कि यह भी रेखांकित करेगा कि उनके वैचारिक योगदान ने मिलकर स्वतंत्र भारत को एक लोकतांत्रिक, समतामूलक और नैतिक आधार प्रदान किया। आज के भारत में, जहाँ सामाजिक असमानता, जातिगत हिंसा और राजनीतिक पतन जैसी चुनौतियाँ सामने हैं, वहाँ गांधी और अंबेडकर के विचार पुनः प्रासंगिक और मार्गदर्शक प्रतीत होते हैं।

वैचारिक समानताएँ

भारत का स्वतंत्रता संग्राम केवल औपनिवेशिक शासन से राजनीतिक मुक्ति का आंदोलन भर नहीं था, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक पुनर्निर्माण, नैतिक जागरण और मानवाधिकारों की पुनर्स्थापना का संघर्ष भी था। इस आंदोलन का वास्तविक उद्देश्य केवल सत्ता परिवर्तन तक सीमित नहीं था, बल्कि भारतीय समाज की गहराई तक जमी हुई असमानताओं को समाप्त कर एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना था, जहाँ समानता, न्याय और मानवीय गरिमा की स्थापना हो सके। इस ऐतिहासिक यात्रा में अनेक नेता और विचारक सक्रिय रहे, परंतु महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर ऐसे दो महान व्यक्तित्व थे, जिन्होंने अपने विचारों और कार्यों से स्वतंत्र भारत की आत्मा तथा संरचना दोनों को निर्णायक रूप से प्रभावित किया। महात्मा गांधी, जिन्हें "राष्ट्रपिता" के रूप में सम्मानित किया जाता है, ने स्वतंत्रता आंदोलन की नींव **सत्य, अहिंसा और आत्मबल** पर रखी। उनका विश्वास था कि किसी भी समाज में स्थायी परिवर्तन केवल राजनीतिक या कानूनी उपायों से नहीं लाया जा सकता, बल्कि इसके लिए लोगों की अंतरात्मा को जागृत करना आवश्यक है। गांधीजी का सपना था-"ग्राम स्वराज" का भारत, जहाँ हर गाँव आत्मनिर्भर हो, सामाजिक संबंध सामंजस्यपूर्ण हों और जीवन की दिशा नैतिक मूल्यों से संचालित हो। उनके लिए स्वतंत्रता का अर्थ मात्र विदेशी सत्ता से मुक्ति नहीं था, बल्कि सामाजिक बुराइयों जैसे छुआछूत, अस्पृश्यता और नैतिक पतन से मुक्ति भी था।[i]

दूसरी ओर, डॉ. भीमराव अंबेडकर का दृष्टिकोण अनुभव-सम्पन्न और यथार्थवादी था। उन्होंने स्वयं जातिगत भेदभाव और सामाजिक बहिष्कार की पीड़ा झेली थी। इस अनुभव ने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि केवल राजनीतिक आज़ादी पर्याप्त नहीं है, जब तक कि समाज से जातिगत अन्याय और असमानता का उन्मूलन न हो। अंबेडकर का जीवन **सामाजिक न्याय, कानूनी समानता और वंचित वर्गों के अधिकारों** की लड़ाई को समर्पित रहा। वे मानते थे कि ठोस संवैधानिक प्रावधान, विधिक ढाँचा और राजनीतिक प्रतिनिधित्व ही वास्तविक और स्थायी सामाजिक परिवर्तन के साधन हो सकते हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा सबसे सशक्त हथियार थी - एक ऐसा साधन, जो वंचितों को आत्मनिर्भर बनाकर उन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ सकता है। यदि गांधी का आदर्शवाद नैतिक चेतना और आत्मशुद्धि के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की ओर अग्रसर था, तो अंबेडकर का यथार्थवाद उस परिवर्तन को **कानूनी ढाँचे और संस्थागत सुरक्षा** में ढालने का प्रयास था। दोनों के विचारों की जड़ में एक साझा मूल्य निहित था-**मानव गरिमा का सम्मान**। गांधी के लिए यह मूल्य सत्य

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-8(B)| August - 2025

और अहिंसा की परिणति था, जबकि अंबेडकर के लिए यह समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का संवैधानिक आदर्श। इस प्रकार, भले ही गांधी और अंबेडकर ने भिन्न-भिन्न मार्ग चुने, परंतु उनके लक्ष्य में कोई अंतर नहीं था। दोनों का उद्देश्य एक ऐसा भारत गढ़ना था, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर, न्याय और सम्मान प्राप्त हो, तथा समाज जातिगत, धार्मिक और लिंग आधारित भेदभाव से मुक्त होकर एक **समानतामूलक और मानवीय राष्ट्र** का निर्माण कर सके।[ii]

वैचारिक भिन्नताएँ

महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर दोनों का साझा उद्देश्य एक न्यायपूर्ण, समतामूलक और भेदभाव-मुक्त भारत की रचना था, किंतु उस लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग, साधन और प्राथमिकताओं में मौलिक अंतर विद्यमान था। यही अंतर उनके आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच वैचारिक द्वंद्व का मूल आधार बना। गांधीजी का दृष्टिकोण गहन नैतिक आदर्शों पर आधारित था। उनका मानना था कि समाज की बुराइयों का उन्मूलन केवल तब संभव है, जब व्यक्तिगत और सामूहिक चेतना में नैतिक परिवर्तन हो। उनके सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का आधार **सत्य, अहिंसा और आत्मबल** था। गांधी छुआछूत को अमानवीय मानते थे और इसके उन्मूलन के लिए उन्होंने हरिजन सेवक संघ, मंदिर-प्रवेश आंदोलन और सफाई अभियानों जैसी पहलों को गति दी। तथापि, वे वर्ण व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त करने के पक्षधर नहीं थे। उनके लिए यह श्रम-विभाजन की एक प्रणाली थी, जिसे यदि नैतिकता और समानता की भावना से जोड़ा जाए, तो समाज के संगठन में सहायक बन सकती है। इस प्रकार, गांधी जातिगत सुधार को **नैतिक दायित्व** के रूप में देखते थे, जो हृदय-परिवर्तन से संभव है, न कि केवल कानूनी उपायों से।[iii]

इसके विपरीत, डॉ. अंबेडकर का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से यथार्थवादी और व्यावहारिक था। उन्होंने जातिगत भेदभाव और सामाजिक बहिष्कार को प्रत्यक्ष अनुभव किया था। उनके अनुसार, जब तक समाज की संरचना में **ठोस कानूनी और संवैधानिक सुधार** लागू नहीं होते, तब तक समानता केवल एक आदर्श बनेगी। अंबेडकर जाति-प्रथा को अन्याय और शोषण की जड़ मानते थे तथा इसके पूर्ण उन्मूलन के पक्षधर थे। उनका विश्वास था कि हृदय-परिवर्तन धीमी और अनिश्चित प्रक्रिया है, जबकि **कानून बाध्यकारी और त्वरित परिवर्तन** ला सकता है। इसी कारण उन्होंने पृथक निर्वाचक मंडल, आरक्षण, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और मौलिक अधिकारों की मांग की और संविधान निर्माण के दौरान इन्हें संस्थागत रूप प्रदान किया। इन भिन्नताओं का सबसे स्पष्ट उदाहरण 1932 का **पूना पैक्ट** है। गोलमेज सम्मेलन में अंबेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की मांग की थी, जिससे उन्हें स्वतंत्र राजनीतिक प्रतिनिधित्व मिल सके। गांधीजी ने इसका विरोध किया और इसे हिंदू समाज में स्थायी विभाजन की ओर बढ़ने वाला कदम बताया। विरोध स्वरूप उन्होंने आमरण अनशन का सहारा लिया। अंततः हुए समझौते में दलितों के लिए आरक्षित सीटों में वृद्धि तो हुई, किंतु पृथक निर्वाचक मंडल की मांग छोड़नी पड़ी। यह प्रसंग दर्शाता है कि गांधी सामाजिक एकता और नैतिक एकजुटता को सर्वोपरि मानते थे, जबकि अंबेडकर राजनीतिक स्वायत्तता और संवैधानिक सुरक्षा को।[iv]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गांधी का आदर्शवाद समाज में **नैतिक जागरण और आत्मशुद्धि** के माध्यम से परिवर्तन लाने का प्रयास था, जबकि अंबेडकर का यथार्थवाद उस परिवर्तन को **कानूनी और संस्थागत ढाँचे** में स्थायी रूप देने का। यही द्वंद्व स्वतंत्रता आंदोलन और राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया में दोनों नेताओं के बीच वैचारिक मतभेद का कारण भी बना, परंतु इस बहस ने भारतीय लोकतंत्र को बहुआयामी, गहन और अधिक सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर, दोनों का अंतिम लक्ष्य एक ही था-ऐसा भारत गढ़ना, जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अवसर, न्याय और मानवीय गरिमा की गारंटी प्राप्त हो। गांधी इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए **नैतिक आदर्शवाद, सत्य और अहिंसा** को साधन मानते थे। उनका विश्वास था कि समाज का वास्तविक रूपांतरण केवल तब संभव है, जब लोगों की अंतरात्मा में जागृति हो और वे नैतिकता को अपने जीवन का आधार बनाएँ। इसके विपरीत, अंबेडकर का दृष्टिकोण **संवैधानिक और संस्थागत ढाँचे** पर आधारित था। वे मानते थे कि बिना ठोस कानूनी प्रावधानों, मौलिक अधिकारों और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के, सामाजिक न्याय और समानता केवल एक आदर्श बने रहेंगे। निस्संदेह, दोनों नेताओं की राहें भिन्न थीं-गांधी का मार्ग नैतिक चेतना और आत्मशुद्धि पर केंद्रित था, जबकि अंबेडकर का मार्ग संवैधानिक यथार्थवाद और कानूनी सुरक्षा पर आधारित। फिर भी, इन दोनों दृष्टियों में एक गहरा पूरक संबंध था। गांधी ने समाज में नैतिक जागरण और आत्मपरिवर्तन का वातावरण तैयार किया, वहीं अंबेडकर ने उस चेतना को **कानूनी, संस्थागत और स्थायी स्वरूप** प्रदान किया। इस प्रकार, दोनों ने मिलकर स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक और सामाजिक नींव को सुदृढ़ किया।

आज के भारत में भी लोकतंत्र की स्थिरता और प्रगतिशीलता इसी संतुलन पर निर्भर है कि **नैतिक मूल्यों और संवैधानिक अधिकारों** को साथ लेकर आगे बढ़ा जाए। यदि गांधी की नैतिक दृष्टि सामाजिक संवेदना और मानवीय संबंधों को गहराई प्रदान करती है,

तो अंबेडकर का संवैधानिक दृष्टिकोण उन संवेदनाओं को सुरक्षा और स्थायित्व देता है। यही कारण है कि गांधी और अंबेडकर की वैचारिक विरासत केवल अतीत की धरोहर भर नहीं है, बल्कि समकालीन भारत के लिए भी एक सशक्त मार्गदर्शक है, जो समाज को अधिक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय दिशा देने में निरंतर सहायक बनी हुई है।

प्रमुख मुद्दों पर टकराव

महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर के बीच सबसे महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक वैचारिक टकराव 1932 के **पूना पैक्ट** के संदर्भ में सामने आया। यह टकराव केवल दो नेताओं की व्यक्तिगत असहमति भर नहीं था, बल्कि इसमें उस दौर के भारतीय समाज की जातिगत संरचना, औपनिवेशिक सत्ता की राजनीतिक रणनीतियाँ और स्वतंत्रता संग्राम के भीतर चल रही सामाजिक-राजनीतिक खींचतान की जटिल परतें भी समाहित थीं। यह प्रसंग इस तथ्य को रेखांकित करता है कि समानता और न्याय जैसे साझा लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग कितने भिन्न हो सकते हैं और कभी-कभी तीव्र टकराव का कारण भी बन जाते हैं। 1930 के दशक की शुरुआत में जब स्वतंत्रता आंदोलन गति पकड़ रहा था, तब दलित समुदाय (तत्कालीन "Depressed Classes") सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक शोषण और गहरे भेदभाव का सामना कर रहा था। मंदिर प्रवेश पर रोक, सार्वजनिक कुँओं और तालाबों से पानी लेने की मनाही, शैक्षिक संस्थानों में खुले तौर पर अपमान-ये सब उनके दैनिक जीवन की कठोर वास्तविकताएँ थीं। अंबेडकर, जिन्होंने इन परिस्थितियों को स्वयं भोगा था, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दलितों की वास्तविक मुक्ति केवल सामाजिक सुधार से संभव नहीं, बल्कि उसके लिए **राजनीतिक प्रतिनिधित्व और संवैधानिक सुरक्षा** अनिवार्य है।

इसी सोच के आधार पर उन्होंने 1930 और 1931 के **गोलमेज सम्मेलनों** में ब्रिटिश सरकार के समक्ष दलितों के लिए **पृथक निर्वाचक मंडल (Separate Electorates)** की मांग उठाई। उनका तर्क था कि जब तक दलित अपने प्रतिनिधि स्वतंत्र रूप से नहीं चुन पाएंगे, तब तक वे उच्च जातियों के राजनीतिक वर्चस्व से मुक्त नहीं हो सकेंगे और न ही अपनी वास्तविक नेतृत्व क्षमता विकसित कर पाएंगे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्ज़े मैकडॉनल्ड ने 16 अगस्त 1932 को **"कम्युनल अवॉर्ड"** जारी किया, जिसमें दलितों सहित कई समुदायों को पृथक निर्वाचक मंडल का अधिकार प्रदान किया गया। येरवदा जेल में बंद गांधीजी ने इस निर्णय का कड़ा विरोध किया। उनका मानना था कि इससे हिंदू समाज स्थायी रूप से विभाजित हो जाएगा और जातिगत खाई और गहरी होगी। सामाजिक एकता और राष्ट्रीय आंदोलन की नैतिक शक्ति को बचाए रखने के लिए उन्होंने 20 सितंबर 1932 को येरवदा जेल से **आमरण अनशन** प्रारंभ किया। यह कदम केवल राजनीतिक दबाव का साधन नहीं था, बल्कि नैतिक और भावनात्मक अपील का प्रतीक भी था, जिसने पूरे देश को आंदोलित कर दिया। देशभर में प्रार्थना सभाएँ, समर्थन रैलियाँ और हस्ताक्षर अभियान चलने लगे, जिससे अंबेडकर पर भी गहन सामाजिक और राजनीतिक दबाव पड़ा। लगातार वार्ताओं और मध्यस्थता के बाद 24 सितंबर 1932 को ऐतिहासिक **पूना पैक्ट** पर सहमति बनी। इस समझौते के तहत पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था समाप्त कर दी गई, लेकिन इसके बदले दलितों के लिए आरक्षित सीटों की संख्या 71 से बढ़ाकर 148 (बाद में 193) कर दी गई। ये सीटें सामान्य हिंदू मतदाताओं द्वारा साझा निर्वाचन प्रक्रिया से चुनी जानी थीं। इसके अतिरिक्त, शिक्षा और सामाजिक सेवाओं में सुधार के लिए विशेष प्रावधानों का वादा भी किया गया।[v]

इस समझौते ने गांधी और अंबेडकर की सोच के मूलभूत अंतर को स्पष्ट कर दिया। गांधीजी के लिए प्राथमिकता थी—**सामाजिक एकता और नैतिक पुनर्जागरण**। वे मानते थे कि दलितों को हिंदू समाज से पृथक करना सुधार की प्रक्रिया को कमजोर करेगा। दूसरी ओर, अंबेडकर के लिए प्राथमिकता थी-**राजनीतिक शक्ति और संवैधानिक गारंटी**। उनका विश्वास था कि बिना स्वतंत्र राजनीतिक प्रतिनिधित्व के दलित समुदाय सदैव बहुसंख्यक प्रभाव में दबा रहेगा और वास्तविक समानता प्राप्त नहीं कर सकेगा। हालाँकि पूना पैक्ट ने तत्कालीन राजनीतिक संकट को टाल दिया, लेकिन इसके दीर्घकालिक परिणामों पर मतभेद बने रहे। गांधी समर्थकों ने इसे हिंदू समाज को विखंडन से बचाने वाला समझौता माना, जबकि अंबेडकर ने जीवन के अंतिम वर्षों तक इसे दलितों के अधिकारों के साथ किया गया एक **अनिवार्य समझौता** बताया। उन्होंने 1945 में स्पष्ट शब्दों में कहा कि पृथक निर्वाचक मंडल का खोना दलित राजनीति के लिए एक स्थायी नुकसान था। इतिहासकारों के अनुसार, पूना पैक्ट केवल एक राजनीतिक समझौता नहीं था, बल्कि यह भारत के राष्ट्रनिर्माण में आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच जारी वैचारिक खींचतान का प्रतीक था। यह संघर्ष इस तथ्य को दर्शाता है कि समानता और न्याय की खोज में अपनाए गए मार्ग कई बार परस्पर विरोधी हो सकते हैं, किन्तु उन्हीं टकरावों से लोकतांत्रिक चेतना भी विकसित होती है और समाज आगे बढ़ने की शक्ति अर्जित करता है।

जाति और वर्ण व्यवस्था

भारतीय समाज की सबसे जटिल और गहरी समस्या सदियों से जाति-प्रथा रही है। यह केवल सामाजिक संगठन की व्यवस्था मात्र नहीं थी, बल्कि धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के हर आयाम में गहराई से पैठा हुआ एक **संस्थागत भेदभाव** था। जाति

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-8(B)| August - 2025

व्यवस्था ने न केवल सामाजिक गतिशीलता को बाधित किया, बल्कि व्यक्ति की पहचान, अवसरों और सम्मान को भी जन्म-आधारित श्रेणियों में बाँध दिया। महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर दोनों ने इस समस्या की गंभीरता को समझा और इसे समाप्त करने या सुधारने के लिए अलग-अलग मार्ग अपनाए। किंतु उनके दृष्टिकोण और समाधान की दिशा मौलिक रूप से भिन्न थी। यही भिन्नता उनके बीच **आदर्शवाद और यथार्थवाद** की बहस का प्रमुख केंद्र बनी।

गांधीजी जाति व्यवस्था को एक सामाजिक दोष मानते थे, लेकिन इसके पूर्ण उन्मूलन के पक्षधर नहीं थे। उनके अनुसार, वर्ण व्यवस्था का **मूल स्वरूप श्रम-विभाजन (division of labour)** था, न कि सामाजिक दमन। गांधी का मानना था कि यदि समाज में विभिन्न कार्यों का वितरण सहयोग और समानता की भावना से किया जाए, तो यह शोषण का साधन न होकर सामंजस्य और सामाजिक संतुलन का आधार बन सकता है। गांधी छुआछूत को पाप और हिंदू धर्म पर कलंक मानते थे। उन्होंने इसके उन्मूलन के लिए व्यापक नैतिक और सामाजिक अभियान चलाए। हरिजन पत्रिका (1933 से प्रकाशित) के माध्यम से उन्होंने लगातार छुआछूत विरोधी विचारों का प्रचार किया। उन्होंने दलितों को 'हरिजन' (भगवान के लोग) कहकर संबोधित किया, ताकि उन्हें एक सम्मानजनक पहचान मिल सके। मंदिर-प्रवेश आंदोलन, 1932 में हरिजन सेवक संघ की स्थापना, और गाँवों में स्वच्छता अभियान-ये सब उनके प्रयासों के ठोस उदाहरण थे। फिर भी, गांधी वर्ण व्यवस्था को पूरी तरह समाप्त करने के बजाय उसमें सुधार लाने के पक्षधर थे। 1933 में हरिजन में उन्होंने लिखा - "वर्ण व्यवस्था समाज की एक रचना है, जिसे यदि शुद्ध रूप में समझा जाए, तो उसमें कोई बुराई नहीं है। इसकी विकृतियों को दूर करना ही सुधार का मार्ग है।" यह कथन दर्शाता है कि गांधी जाति व्यवस्था के विकृत रूप को अस्वीकार करते थे, परंतु वे इसके तथाकथित 'शुद्ध' स्वरूप को समाज के लिए उपयोगी मानते थे। यही आदर्शवादी दृष्टि उनकी सीमा भी बन जाती है, क्योंकि यह जाति-प्रथा के बुनियादी अन्याय को चुनौती नहीं देती, बल्कि उसे सुधार योग्य मानकर स्वीकार करती है।[vi]

डॉ. अंबेडकर के लिए जाति व्यवस्था केवल 'श्रम-विभाजन' नहीं, बल्कि **'श्रमिकों का विभाजन' (division of labourers)** थी। उनका तर्क था कि यह व्यवस्था जन्म पर आधारित है और श्रम का नहीं, बल्कि श्रमिक का अवमूल्यन करती है। जाति-प्रथा व्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता के मूल अधिकारों का निषेध है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Annihilation of Caste (1936) में उन्होंने लिखा –"जाति प्रथा हिंदू समाज की सबसे बड़ी बुराई है। यह किसी भी प्रकार के सुधार से नहीं सुधर सकती, इसे केवल समाप्त किया जा सकता है।" अंबेडकर ने गांधी द्वारा प्रयुक्त 'हरिजन' शब्द की आलोचना की। उनके अनुसार, यह शब्द दलितों को एक अलग और दया-भावना से उपजी पहचान देता है, न कि वास्तविक समानता। वे मानते थे कि जातिगत विशेषाधिकार और वंचनाओं को समाप्त किए बिना कोई भी सुधार टिकाऊ नहीं हो सकता। अंबेडकर का दृष्टिकोण स्पष्टतः **यथार्थवादी और क्रांतिकारी** था। उनके अनुसार, केवल 'हृदय परिवर्तन' पर भरोसा करना आत्मवंचना है। सदियों से चले आ रहे सामाजिक अन्याय की जड़ को केवल **कानूनी ढाँचे, शिक्षा, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और संगठित सामाजिक आंदोलनों** के माध्यम से ही उखाड़ा जा सकता है। इसी कारण उन्होंने संविधान निर्माण में मौलिक अधिकार, समानता का अधिकार और आरक्षण व्यवस्था को सुनिश्चित किया, ताकि वंचित वर्गों को वास्तविक सुरक्षा और अवसर मिल सकें।[vii]

महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर का वैचारिक टकराव मुख्यतः **जाति व्यवस्था और राजनीतिक प्रतिनिधित्व** के प्रश्नों पर केंद्रित था। 1932 का **पूना पैक्ट** इस टकराव का सबसे महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक पड़ाव सिद्ध हुआ। अंबेडकर का मानना था कि दलितों की वास्तविक मुक्ति केवल तभी संभव है, जब उन्हें स्वतंत्र राजनीतिक प्रतिनिधित्व और संवैधानिक सुरक्षा प्राप्त हो। इसी कारण उन्होंने पृथक निर्वाचक मंडल की माँग रखी, ताकि दलित समुदाय अपने प्रतिनिधि स्वयं चुन सके और उच्च जातियों के राजनीतिक वर्चस्व से मुक्त हो सके। दूसरी ओर, गांधीजी इस व्यवस्था को हिंदू समाज की स्थायी विखंडन रेखा मानते थे। उनके अनुसार, दलितों को मुख्यधारा से अलग करना सामाजिक एकता को कमजोर करेगा और स्वतंत्रता आंदोलन की नैतिक शक्ति को आघात पहुँचाएगा। परिणामस्वरूप, गहन वार्ताओं और दबावों के बाद हुए समझौते में पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था समाप्त कर दी गई और उसके स्थान पर दलितों के लिए आरक्षित सीटों की संख्या बढ़ा दी गई। यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि गांधी के आदर्शवाद और अंबेडकर के यथार्थवाद के बीच मूलभूत अंतर किस प्रकार राष्ट्रनिर्माण की दिशा को प्रभावित करता था। इसी प्रकार, **जाति और वर्ण व्यवस्था** के प्रश्न पर भी दोनों नेताओं की दृष्टियाँ भिन्न थीं। गांधी जाति व्यवस्था के विकृत रूप को तो अस्वीकार करते थे, किंतु इसके तथाकथित "शुद्ध" स्वरूप को वे श्रम-विभाजन की व्यवस्था मानते थे, जिसे समाज के लिए उपयोगी ठहराया जा सकता है। उनके लिए छुआछूत का उन्मूलन नैतिक और धार्मिक कर्तव्य था। उन्होंने हरिजन पत्रिका, हरिजन सेवक संघ और मंदिर-प्रवेश आंदोलनों के माध्यम से सामाजिक चेतना जगाने का प्रयास किया। इसके विपरीत, अंबेडकर का तर्क था कि जाति व्यवस्था श्रम का नहीं, बल्कि श्रमिकों का विभाजन है और इसका आधार जन्म पर आधारित सामाजिक भेदभाव है। उनके अनुसार, जाति-प्रथा केवल अन्याय और शोषण की जड़ है, जिसे सुधार कर नहीं, बल्कि

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-8(B)| August - 2025

जड़ से उखाड़कर ही समाप्त किया जा सकता है। अंबेडकर ने शिक्षा, संगठन, आरक्षण और संवैधानिक अधिकारों को दलित सशक्तिकरण का आधार बनाया और Annihilation of Caste में स्पष्ट किया कि जाति का नाश ही सामाजिक न्याय का वास्तविक मार्ग है। स्पष्ट है कि गांधी और अंबेडकर की विचारधाराएँ भले ही एक-दूसरे से भिन्न थीं, किंतु दोनों का उद्देश्य समाज को अधिक न्यायपूर्ण और समानतामूलक बनाना था। गांधी का जोर **नैतिक आदर्शवाद और सामाजिक चेतना** पर था, जबकि अंबेडकर का दृष्टिकोण **संवैधानिक यथार्थवाद और संस्थागत परिवर्तन** पर केंद्रित था। इन दोनों के बीच की असहमतियाँ केवल मतभेद नहीं थीं, बल्कि उन्होंने भारत की लोकतांत्रिक और सामाजिक संरचना को गहराई से आकार दिया। यही कारण है कि गांधी और अंबेडकर का विमर्श आज भी भारतीय समाज और राजनीति के लिए उतना ही प्रासंगिक है, जितना स्वतंत्रता आंदोलन के समय था।

नैतिक आदर्शवाद बनाम यथार्थवाद

यहीं पर महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों में बुनियादी टकराव सामने आता है। गांधी का विश्वास था कि जाति-प्रथा के सुधार का मार्ग नैतिक जिम्मेदारी और सामाजिक चेतना के जागरण से होकर गुजरता है। वे हिंदू धर्म के भीतर रहकर छुआछूत के उन्मूलन और जातिगत सुधार को साधना चाहते थे। उनके लिए यह केवल सामाजिक सुधार नहीं, बल्कि एक **धार्मिक-नैतिक कर्तव्य** था। इसके विपरीत, अंबेडकर का मानना था कि गांधी का यह रुख अपर्याप्त और भ्रामक है। Annihilation of Caste (1936) में उन्होंने स्पष्ट कहा- "जाति हिंदू धर्म की रीढ़ है। यदि आप जाति को समाप्त करना चाहते हैं, तो आपको हिंदू धर्म को ही अस्वीकार करना होगा।" अंबेडकर के अनुसार, हिंदू धर्म की मौलिक संरचना में जातिगत असमानता अंतर्निहित है। अतः इस ढाँचे के भीतर रहकर सुधार की कोई भी कोशिश स्थायी परिणाम नहीं दे सकती। यही कारण था कि 1956 में अंबेडकर ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर यह ऐतिहासिक घोषणा की कि जाति-उन्मूलन हिंदू सामाजिक ढाँचे के भीतर संभव नहीं है; इसके लिए नए धार्मिक-सामाजिक मार्ग की आवश्यकता है। इस प्रकार गांधी का दृष्टिकोण **नैतिक आदर्शवाद** पर आधारित था, जबकि अंबेडकर का दृष्टिकोण कठोर **यथार्थवाद** पर टिका हुआ था।[viii]

उत्तरकालीन प्रभाव और प्रासंगिकता

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गांधी और अंबेडकर का विमर्श केवल इतिहास तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने भारत के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास की दिशा को गहराई से प्रभावित किया। अंबेडकर द्वारा संविधान निर्माण में प्रस्तुत सिद्धांतों ने स्वतंत्र भारत की बुनियादी संरचना को आकार दिया। संविधान में मौलिक अधिकार, समानता का अधिकार, भेदभाव-निषेध, आरक्षण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे प्रावधान अंबेडकर के यथार्थवादी दृष्टिकोण की परिणति थे। इन व्यवस्थाओं ने दलितों, आदिवासियों और अन्य वंचित समूहों को लोकतांत्रिक ढाँचे में बराबरी का दर्जा और अवसर सुनिश्चित किए। दूसरी ओर, गांधीजी की विरासत भारतीय लोकतंत्र में एक अलग रूप में परिलक्षित हुई। उनका आदर्श **ग्राम स्वराज, आत्मनिर्भरता और नैतिक राजनीति** था। स्वतंत्रता के बाद पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता मिलना, गांधी के ग्राम स्वराज के विचार की ही प्रतिध्वनि थी। विनोबा भावे का भूदान आंदोलन और जयप्रकाश नारायण का संपूर्ण क्रांति आंदोलन गांधीवादी विचारधारा की सीधी प्रेरणा थे। ग्रामीण विकास, सहकारिता आंदोलन और लघु उद्योगों को बढ़ावा देने वाली योजनाओं में भी गांधी की सोच दिखाई देती है। हालाँकि औद्योगीकरण और शहरीकरण की तीव्र गति ने गांधी के ग्राम स्वराज को पूरी तरह साकार नहीं होने दिया, फिर भी उनकी विचारधारा आज भी भारतीय नीतिगत विमर्श में **नैतिक आदर्श** के रूप में जीवित है।[ix]

स्वतंत्र भारत में डॉ. अंबेडकर की विचारधारा ने **नव-दलित राजनीति** और सामाजिक आत्मसम्मान की नींव रखी। उनके नेतृत्व ने वंचित समुदाय को केवल संवैधानिक अधिकार ही नहीं, बल्कि आत्म-सम्मान और संघर्ष की चेतना भी दी। 1950 और 1960 के दशक में दलित आंदोलन धीरे-धीरे आकार लेने लगा। 1970 के दशक में दलित पैंथर आंदोलन ने सामाजिक उत्पीड़न और अन्याय के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध को नया स्वरूप दिया। इसके पश्चात बहुजन समाज पार्टी (BSP) जैसे राजनीतिक दलों का उदय हुआ, जिसने दलितों और पिछड़े वर्गों की आवाज़ को राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक शक्ति के रूप में स्थापित किया। आरक्षण नीति पर उठे विवादों, विशेषकर मंडल आयोग (1990) और उसके बाद हुए आंदोलन, ने यह स्पष्ट किया कि अंबेडकर की सामाजिक न्याय की अवधारणा अब भी भारतीय राजनीति का केंद्रीय प्रश्न बनी हुई है। आरक्षण ने लाखों वंचित युवाओं को शिक्षा और रोजगार में अवसर प्रदान किए, किंतु इसके विरुद्ध आंदोलनों ने यह भी उजागर किया कि सामाजिक न्याय का संघर्ष अभी अधूरा है और समानता की राह कठिनाइयों से भरी हुई है।[x]

गांधीजी की विचारधारा स्वतंत्र भारत के कई सामाजिक आंदोलनों में प्रेरक शक्ति बनी रही। चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन और अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन सीधे तौर पर गांधीवादी अहिंसक प्रतिरोध और सत्याग्रह की परंपरा से जुड़े रहे। गांधी का मूल संदेश यह था कि सत्ता परिवर्तन या सामाजिक बदलाव केवल कानून और हिंसा से नहीं, बल्कि **नैतिक दबाव और**

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-8(B)| August - 2025

आत्मबल से भी संभव है। यही विचार स्वतंत्र भारत के अनेक जनआंदोलनों का आधार बना। हालाँकि समकालीन राजनीति में धनबल, जातिगत समीकरणों और सत्ता-लोलुपता का बढ़ता प्रभाव यह दर्शाता है कि गांधी का नैतिक आदर्शवाद व्यवहार में लाना आज भी भारतीय लोकतंत्र की सबसे बड़ी चुनौती है। फिर भी, उनकी विचारधारा नैतिक राजनीति की एक कसौटी के रूप में कायम है और लोकतांत्रिक विमर्श में आज भी प्रासंगिक बनी हुई है।

समकालीन भारत में प्रासंगिकता

इक्कीसवीं सदी का भारत वैश्वीकरण, तकनीकी प्रगति और आर्थिक विकास की दिशा में तेज़ी से आगे बढ़ रहा है। सूचना क्रांति, डिजिटलीकरण और आर्थिक उदारीकरण ने देश को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया है। किंतु इन उपलब्धियों के बावजूद जातिगत असमानता, सामाजिक अन्याय और राजनीतिक भ्रष्टाचार जैसी चुनौतियाँ गहराई से विद्यमान हैं। **उना आंदोलन (2016)**, **भीमा-कोरेगाँव (2018)** की घटनाएँ और आज भी सामने आने वाली दलित उत्पीड़न की खबरें इस तथ्य का प्रमाण हैं कि डॉ. अंबेडकर का जाति-उन्मूलन का सपना अभी अधूरा है। संविधान द्वारा प्रदत्त समानता का अधिकार और भेदभाव-निषेध के बावजूद व्यवहारिक जीवन में विषमता, भेदभाव और बहिष्कार की प्रवृत्तियाँ बनी हुई हैं। यह दर्शाता है कि संवैधानिक समानता और सामाजिक वास्तविकता के बीच अब भी एक गहरी खाई मौजूद है। इसी प्रकार, समकालीन राजनीति में बढ़ती **हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ, असहिष्णुता, सत्ता-लोलुपता और नैतिक मूल्यों का पतन** गांधीजी की चेतावनी को और अधिक प्रासंगिक बनाते हैं। गांधी का आदर्श-सत्य, अहिंसा और नैतिक राजनीति-आज भी भारतीय लोकतंत्र के लिए मार्गदर्शक है। जब लोकतांत्रिक संस्थाएँ केवल सत्ता-प्राप्ति और चुनावी गणित का साधन बन जाती हैं, तब गांधी का विचार यह स्मरण कराता है कि राजनीति केवल सत्ता-संघर्ष नहीं, बल्कि एक नैतिक दायित्व और लोकसेवा का माध्यम है।[xi] इस प्रकार स्पष्ट है कि गांधी और अंबेडकर का विमर्श केवल अतीत का एक ऐतिहासिक प्रसंग नहीं, बल्कि स्वतंत्र भारत की सामाजिक-राजनीतिक यात्रा का स्थायी आधार है। अंबेडकर ने हमें **संवैधानिक ढांचा, अधिकार और समानता की गारंटी** प्रदान की, जबकि गांधी ने हमें **नैतिक आदर्श, सामाजिक चेतना और अहिंसक प्रतिरोध का मार्ग** दिखाया। यदि समकालीन भारत इन दोनों विरासतों को संतुलित रूप में अपनाए-यानी अंबेडकर का संवैधानिक यथार्थवादी और गांधी का नैतिक आदर्शवाद-तो ही वह एक सशक्त, न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय लोकतांत्रिक राष्ट्र का निर्माण कर सकेगा।

भारतीय समाज के सामने आज जो चुनौतियाँ हैं - जातिगत असमानता, नैतिक पतन, राजनीतिक अवसरवाद और ग्रामीण पिछड़ापन, उनसे निपटने के लिए गांधी और अंबेडकर की विचारधारा को केवल अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर पूरक रूप में समझने की आवश्यकता है। स्वतंत्र भारत की वास्तविक उन्नति तभी संभव होगी जब संवैधानिक अधिकारों और नैतिक चेतना, दोनों को समान महत्व दिया जाएगा। अंबेडकर ने हमें चेताया था कि केवल क़ानून बनाने से समाज नहीं बदल सकता, जब तक कि शिक्षा और सामाजिक जागरूकता उसकी जड़ों तक न पहुँचे। वहीं गांधीजी का कहना था कि केवल आत्मशुद्धि और नैतिक उपदेश पर्याप्त नहीं, जब तक उन्हें सामाजिक-आर्थिक संरचना में ढाला न जाए। अतः वर्तमान भारत को इस संतुलन की दिशा में ठोस कदम उठाने होंगे, ताकि संवैधानिक न्याय और सामाजिक जिम्मेदारी एक-दूसरे को मजबूती दें। जाति प्रथा का प्रश्न आज भी भारत के लोकतंत्र के लिए चुनौती बना हुआ है। अंबेडकर का यह आग्रह कि जाति का केवल सुधार नहीं, बल्कि उसका उन्मूलन आवश्यक है, आज भी उतना ही प्रासंगिक है। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा को हर स्तर तक पहुँचाया जाए, समाज में समानता की चेतना जगाई जाए और कानूनी प्रवर्तन के माध्यम से जातिगत भेदभाव को पूरी कठोरता से रोका जाए। जब तक जाति-आधारित विशेषाधिकार और वंचनाएँ समाप्त नहीं होंगी, तब तक सामाजिक न्याय अधूरा ही रहेगा। गांधी का ग्राम स्वराज का आदर्श भी आज नई दृष्टि से विचारणीय है। बढ़ते शहरीकरण और आर्थिक असमानता के इस युग में आत्मनिर्भर गाँवों की अवधारणा केवल एक स्वप्न नहीं, बल्कि आवश्यकता है। ग्रामीण भारत को आत्मनिर्भर बनाने के लिए स्थानीय रोजगार, छोटे उद्योग और सहकारिता को बढ़ावा देना होगा, ताकि ग्रामीण और शहरी समाज के बीच की खाई कम हो। साथ ही, पर्यावरणीय संतुलन और सतत विकास की दृष्टि से भी गांधी का ग्राम स्वराज आज अत्यधिक प्रासंगिक हो उठा है। राजनीति में नैतिकता का पुनर्स्थापन भी आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। आज का लोकतंत्र धन-बल, जातिगत ध्रुवीकरण और सत्ता-लोलुपता की चुनौतियों से जूझ रहा है। गांधीजी का सत्य, अहिंसा और नैतिकता पर आधारित आदर्श हमें यह स्मरण कराता है कि राजनीति का उद्देश्य केवल सत्ता प्राप्ति नहीं, बल्कि जनहित और लोककल्याण होना चाहिए। यदि राजनीतिक जीवन में पारदर्शिता, आत्मसंयम और नैतिकता को पुनः स्थापित नहीं किया गया, तो लोकतंत्र केवल एक औपचारिक संरचना बनकर रह जाएगा।

समकालीन सामाजिक आंदोलनों को भी गांधी और अंबेडकर दोनों से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है। गांधी के अहिंसक प्रतिरोध और सत्याग्रह की परंपरा ने यह सिखाया कि बड़े से बड़ा परिवर्तन भी शांतिपूर्ण तरीक़े से संभव है, जबकि अंबेडकर की संवैधानिक चेतना

ने यह दिखाया कि संघर्ष को स्थायी बनाने के लिए उसे संस्थागत और कानूनी रूप देना ज़रूरी है। यदि वर्तमान के आंदोलन इन दोनों ध्रुवों से सीख लें, तो वे अधिक व्यापक, प्रभावशाली और टिकाऊ बन सकते हैं। अतः आज के भारत के लिए यह समय की पुकार है कि गांधी और अंबेडकर की विरासत को केवल अतीत की धरोहर मानकर न रखा जाए, बल्कि उसे वर्तमान और भविष्य की दिशा बनाने के लिए सक्रिय रूप से अपनाया जाए। यही मार्ग हमें एक सशक्त, समतामूलक, लोकतांत्रिक और नैतिक भारत की ओर ले जा सकता है। इस प्रकार, गांधी और अंबेडकर का विमर्श केवल इतिहास का अध्याय नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य की दिशा भी है। एक ओर गांधी हमें आत्मशुद्धि, नैतिक राजनीति और सामाजिक सामंजस्य का संदेश देते हैं, वहीं अंबेडकर हमें चेताते हैं कि बिना संरचनात्मक समानता और संवैधानिक सुरक्षा के लोकतंत्र अधूरा रहेगा। भारत को यदि एक सचमुच का समतामूलक, लोकतांत्रिक और मानवीय समाज बनाना है, तो उसे इन दोनों विरासतों को संतुलित रूप से अपनाना होगा।

निष्कर्ष

महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय इतिहास के वे दो ध्रुव हैं जिनके विचारों ने आधुनिक भारत की आत्मा और संरचना को गहराई से प्रभावित किया। गांधी का आदर्शवाद सत्य, अहिंसा, नैतिकता और ग्राम स्वराज की कल्पना भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की नैतिक शक्ति बना। वहीं अंबेडकर का यथार्थवाद संवैधानिक अधिकारों, सामाजिक न्याय और समानता पर बल स्वतंत्र भारत की संस्थागत और कानूनी नींव। दोनों के बीच वैचारिक असहमति-विशेषकर जाति व्यवस्था, आरक्षण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे प्रश्नों पर भारतीय लोकतंत्र के लिए केवल टकराव नहीं, बल्कि विकास की धुरी साबित हुई। गांधी का आग्रह था कि सामाजिक परिवर्तन हृदय और चेतना के स्तर पर हो, जबकि अंबेडकर का मानना था कि बिना ठोस संवैधानिक प्रावधानों और राजनीतिक अधिकारों के कोई परिवर्तन स्थायी नहीं हो सकता। इस द्वंद्व ने भारत को एक ऐसा लोकतंत्र दिया, जिसमें नैतिक आदर्श और संवैधानिक यथार्थ दोनों की जगह है। उत्तरकालीन भारत में भी यह विमर्श जीवित है। दलित राजनीति, आरक्षण नीति, पंचायती राज, ग्रामीण विकास योजनाएँ, और समकालीन जनआंदोलन ये सभी इस बात का प्रमाण हैं कि गांधी और अंबेडकर की विरासत आज भी भारत की नीतियों और सामाजिक चेतना को दिशा दे रही है। किंतु साथ ही यह भी सच है कि जातिगत हिंसा, असमानता, भ्रष्टाचार और राजनीतिक असहिष्णुता यह दर्शाती है कि इन दोनों महान विभूतियों के स्वप्न अभी अधूरे हैं।

संदर्भ सूची

1. गांधी, एम. के. (1999). हिंद स्वराज और अन्य लेख. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पेज 45
2. अंबेडकर, बी. आर. (2014). जाति का उन्मूलन. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पेज. 35-37.
3. Zelliot, E. (2004). Ambedkar's World: The Making of Babasaheb and the Dalit Movement. New Delhi: Navayana Publishing. Pp. 87-90.
4. अंबेडकर, बी. आर. (2014). जाति का उन्मूलन. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पेज 42-45.
5. अंबेडकर, बी. आर. (1991). Writings and Speeches, Vol. 2, Bombay: Education Department, Government of Maharashtra. Pp 260-265.
6. Gandhi, M. K. (1958). The Collected Works of Mahatma Gandhi, Vol. 62 New Delhi: Publications Division, Government of India. pp. 154-156.
7. Ambedkar, B. R. (2014). Annihilation of Caste, New Delhi: Navayana Publishing. pp. 25-30.
8. Keer, Dhananjay. (1990). Dr. Ambedkar: Life and Mission Bombay: Popular Prakashan. pp. 410-415.
9. Gandhi, M. K. (1958). The Collected Works of Mahatma Gandhi, Vol. 83. New Delhi: Publications Division, Government of India. pp. 212-215.
10. Guha, Ramachandra. (2007). India After Gandhi: The History of the World's Largest Democracy, New Delhi: HarperCollins. pp. 611-617.
11. Teltumbde, Anand. (2018). The Republic of Caste: Thinking Equality in the Time of Neoliberal Hindutva, New Delhi: Navayana Publishing. pp. 145-152.